चुल्लू भर पानी, चुल्लू भर खून

ना.ग. गोरे

अनुवाद - वसुधा माने

आसमान में कहीं छोटा-सा बादल भी नंजर नहीं आ रहा था। ऊपर से जैसे आग बरस रही थी। बाहर पीली, नम धूप थी। हमारी गाड़ी धीमी गति से इलाहाबाद की ओर बढ़ रही थी जैसे मक्खी गुड़ की भेली पर रेंगती है। गाड़ी में खचाखच भीड़ थी और अगर कोई संडास तक भी जाना चाहता तो लोगों के हाथ-पांवों को दबाकर या उनका सामान रौंदते हुए ही जा सकता था। इलाहाबाद पहूँचते ही भीड़ का तूंफन आ जाएगा तथा दिल्ली तक पहूँचते-पहूँचते यह सुख भी किसी को नसीब नहीं होगा, यह बात हर कोई जानता था। जैसे ही गाड़ी ने दिशा बदली और पहियों की खड़खड़ाहट सुनाई दी तब तक डिब्बे का हर यात्री इस कदर सँवर के बैठ गया जैसे किसी युध्द का मोर्चा बाँध रहा हो। खिड़की के पास बैठे हुए प्रवासियों ने खिड़कियों के शटर्स गिरा दिये और जंगी सैनिकों की तरह वे तनके बैठ गये। उस एक पल में पूरे डिब्बे के यात्रियों में एक बिरादरी का-सा लगाव हो गया।

गाडी ऌलाहाबाद स्टेशन के प्लेटफार्म पर आ गयी थी। वह खड़ी हो, इसके पूर्व ही हरी वर्दी पहले फौंजियों ने हमारा डिब्बा घेर लिया। यों तो जहाँ देखो वहीं पूरे प्लेटफार्म पर फौंजी सिपाही ही नंजर आ रहे थे। मुगलसराय से एक मारवाड़ी अपना भारी-भरकम बिस्तर लगाए बैठा था। किसी ने बाहर से दरवांजा खोला तो बेचारा मारवाड़ी जाल में फंसे चूहे की तरह चिल्लाने लगा। हम सब भी चिल्लाकर कर बोलने लगे, "कहाँ घुसे आ रहे हो? यहाँ जगह नहीं है।" लेकिन कोई सुने तब ना! दाढ़ी-मूँछ वाले सिख, बैरे कैप्स लगाए हुए पंजाबी और जाट सैनिक देखते-देखते अन्दर घुस आये। आते ही उन्होंने सारी खिड़कियाँ खोल वहाँ से अपना और अपने साथियों का सामान अन्दर लेना शुरू कर दिया। बन्दूकें, किट्बैग्ंज, बिस्तर, बडे-बड़े पिटारे...पूछो मत। एक तरफ खिड़की से सामान अन्दर आ रहा था दूसरी तरफ दरवांजे से ंफौंजी जवान। हम पहले से बैठे यात्री इस प्रकार से तंग आ गये। हमारे कपड़ों से पसीने की बू आ रही थी, सारा शरीर मैला-कुचैला हो गया था, तीन-चार दिन का संफर...और ऊपर से यह बला।

झल्लाकर मैंने कहा, "पता नहीं ये बला हमारे ही सर पर क्यों आयी! अपने ही डिब्बों में क्यों नहीं चले गये ये लोग!"

"भाई, फौंजी हैं। इन्हें कौन रोक सकता है? शुक्र है इन्होंने हमें ही उठाकर बाहर नहीं पटक दिया।" सामने वाली सीट पर बैठा एक बूड्ढ़ा मुसलमान बोला, जो कब से तमाखू चबा रहा था।

एक अधेड़ उम्र की औरत सर पर खिंचे घूँघट में से बोली, "आपने ठीक कहा बाबा। इन

फौंजियों को न किसी की शर्म है न हया। इनमें इनसानियत नाम की चींज नहीं होती।"

हम पहले यात्री आपस में उनके बारे में यों ही बातें कर रहे थे मगर उन्होंने हमारी ओर कतई ध्यान नहीं दिया। वे अपना-अपना सामान ठीक करने में व्यस्त थे। अपने बड़े पिटारों पर बाकी सामान रखकर उन्होंने पैर धरने लायक जगह बना ली थी। उनके बदन पसीने से तर थे और जगह-जगह उनकी वर्दियाँ भीग गयी थीं। हालांकि हमारा हाल भी टोकरे में बन्द मुर्गियों से बेहतर नहीं था। ऐसे में कहीं से खड़े होकर एक सरदारजी ने अपनी भारी आवांज में पूछा, "हो गया सारा मामला ठीक-ठाक?"

"जी, हां जी सरदारजी।"

"बौत अच्छा! हुण आराम करो बेटे।" कहकर उन्होंने अपनी बेल्ट ढीली कर दी और बैठते-बैठते अपने-आप से ही बोले, "जंग खत्म हुआ। चलो, पाँच सालों बाद घर के दर्शन होंगे।"

दाढ़ी-मूँछों के जंगल से पूरी तरह से वाक्य बोला भी नहीं गया। आँखें नम हो गयीं। थोड़ा-सा आगे झुके और चुप हो गये। पास में बैठे मुसलमान सिपाही ने कहा, "ंफिक्र न करो यार। जहन्नुम से जिन्दा लौटे हो, खुदा के फजल से। अब सब ठीक हो जाएगा।"

सरदार जी कुछ नहीं बोले। दाढ़ी में हाथ फेरते हूए उनके मुंह से निकला, "वाहे गुरु, वाहे गुरु।"

बेंच के पीछे से एक छोटी-सी गोरी बांह सरदारजी का कन्धा छू गयी। बच्चे के प्यार भरे तुतले शब्द सुनाई दिए : "चाचाजी, चाचाजी!"

हम सब उसी ओर देखने लगे। भुट्टे जैसे मुलायम स्वर्णिम लाल बाल, शरारती आँखें, गोरा चिट्टा बच्चा अपनी खरगोश के पंजे जैसी हथेलियाँ सरदार जी के कन्धों पर रखकर बुला रहा था : "चाचाजी, चाचाजी।"

सरदारजी ने मुड़कर उसकी हथेलियाँ अपने मजबूत हाथों में थाम लीं और उसे देखते ही रह गये। बच्चा भी ढीठ था। उसने भी नंजर नहीं हटायी। पहाड़नुमा वह फौंजी सिपाही उस मुलायम स्पर्श से बरफ की तरह अन्दर-ही-अन्दर पिघल रहा था। वह कुछ भी बोलने में असमर्थ हो गया था। शुरूआत में बच्चा वर्दी को, दाढ़ी-मूँछों के घने जंगल को सहमा-सा देख रहा था। अब उसका डर दूर हो गया। सरदारजी की दाढ़ी में अपनी उँगलियाँ फँसाते हुए वह बोला, "मां, देखो ये शेर।"

बुर्का ओढ़े बैठी उसकी मां ने डाँटते हुए कहा, "अनवर! बत्तमीज कहीं का!"

लेकिन सरदारजी बहुत खुश हूए। हँसते-हँसते उन्होंने पूछा, "अच्छा! मैं शेर हूं। फिर तुम

कौन हो? खरगोश।"

यह प्यार-दुलार का दृश्य हम सब देख रहे थे। लेकिन मैं मन-ही-मन में सोच रहा था, कि ये मां-बच्चा डिब्बे में कब आये। इलाहाबाद से पहले तो ये हमारे संग नहीं थे। तो इतनी भीड़ में कैसे आये होंगे? शायद फौंजी बाढ़ के धक्के से बिना प्रयास अन्दर आ गये। खरगोश जैसे गदबदे बदन वाले उस बातूनी लड़के को हम कौतूहल से देख रहे थे। वह सरदारजी पर सवालों की बौछार कर रहा था : "हमारी गाड़ी कब छूटेगी?"

"बस, अब छूटने ही वाली है।"

"यह लिबास क्यों पहना आपने?"

"फौंजी लोग ऐसा ही लिबास पहनते हैं।"

"यह बन्दूक है ना, क्या करते हैं इससे?"

"बन्दूक से क्या करते हैं? गोली चलाते हैं-ठाऽऽ करके।"

"किस पर चलाते हो?"

"आदमियों पर।"

"हां, मगर क्यों?"

"तंग करते हैं न! इसलिए "

अनवर की मां जानती थी कि उसके सवाल कभी खत्म न होंगे। उसने कहा, "देखो अनवर, बक-बक बन्द करो, वर्ना सरदारजी कहेंगे कि यह बच्चा बहुत ही शरारती है। तंग करता है।"

वह डरनेवाला थोड़े ही था। अपने दोनों हाथ सरदारजी के हाथों में रखे वह मां की तरफ झुककर चिढ़ाते हुए बोला, "तब चाचाजी मुझे गोली से उड़ा देंगे?" वह हँस रहा था और उसके बाल मुर्गे की कलगी की तरह लहरा रहे थे।

सरदारजी ने अनायास उसे अपने हाथ भींच लिया और उसका गाल सहलाते हुए वे बोले, "पागल कहीं का। बुलबुल जैसे चहकने वाले बच्चे को कोई गोली मारा है भाई!"

फिर उसका ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उन्होंने पूछा, "बोलो, क्या खाओगे?"

"कुछ नहीं," अनवर बोला।

तब उसे लगा जैसे प्यास लगी हो। वह मां की गोद में चला गया और जिद करने लगा, "मां मुझे पानी दो। मुझे प्यास लगी है।"

मां ने उसे खाली लोटा दिखाते हुए कहा, "जानते नहीं हो कि भीड़ में पानी बिखर गया। अब पानी के लिए जिद्द नहीं करो बेटे। लखनऊ पहुँचेगे न, तब मिलेगा, हां। मेरा अच्छा बेटा।"

सरदारजी झट् खड़े होकर कहने लगे, "बहनजी, मुझे दीजिए लोटा। मैं अभी भर लाता हूं।"

लोटा लेकर वे खिड़की से बाहर की ओर झुके ही थे कि उनका दोस्त बोला, "उधम सिंग, गाड़ी के चलने का समय हो रहा है। मेरे पास वॉटर बॉटल में पानी है। मैं देता हूं। जाओ नहीं..."

लेकिन तब तक उधमसिंह बाहर को कूद चुका था और नलके की तरफ तेजी से दौड़ रहा था।

थोड़ी ही देर में गाड़ी सीटी देकर धीमे-धीमे चलने लगी। खिड़की की तरफ बैठे यात्री देख रहे थे कि गाड़ी पकड़ने के लिए उधमसिंह दौड़ रहा था। उसके कुछ दोस्त उसे चिल्लाकर अगले स्टेशन पर आने को कह रहे थे, तो कोई और जोर से दौड़ने की सलाह दे रहे थे।

इस सब में अनवर कुछ समझ नहीं पा रहा था कि इसमें उसका कोई कसूर है या चाचाजी गाड़ी से गिर गये हैं? उसकी आँखों की शरारत बुझ गयी थी। उसे प्यास खूब लगी थी। गर्मी के कारण गाल और लाल हो रहे थे। गाड़ी ने अब गति पकड़ ली थी। नजदीक बैठा पंजाबी मुसलमान कह रहा था, "अब नहीं आ सकता वह।" कहते हुए उसने अपनी वॉटर-बॉटल अनवर के सामने कर दी। उसने वह मुंह को लगायी ही थी कि दरवांजे से सरदारजी की आवांज आयी, "अनवर बेटा, ये लो पानी।"

शब्द सुनते ही उसने वॉटर-बॉटल अपने मुंह से हटायी और सरदारजी का लाया हूआ लोटा हाथों में पकड क़र पानी पीने लगा। सरदारजी की मोटी उँगलियाँ उसके बालों का रेशम सहला रही थीं।

उस दृश्य की कदर करते हुए दूसरे सिपाही ने अपनी वॉटर-बॉटल हटा ली। देखनेवालों में से एक जाट ने हँसकर कहा, "मुहब्बत भी कैसी चीज होती यार।"

अनवर के होंठों से गिरने वाली पानी की बूँद सरदारजी ने यूँ पोंछी कि वे गुलाब की पंखुड़ियों से ओस की बूँद सोख रहे हों। बोले, "मेरा लछमन भी तो इतना ही बड़ा होगा।" उनकी आँखें भर आयी थीं, गला रुँध गया था।

इस घटना को दो-अढ़ाई साल हुए। दो दिनों के बाद स्वतंत्रता दिवस। भारत का पहला स्वतंत्रता दिवस। करोल बाग में जामिया मिलिया के स्कूल में तैयारी हो रही थी। सारी कक्षाएं रंग-बिरंगी झण्डियों से सजी थीं। बच्चों में उत्साह भरा था। हमने उनके बनाए चित्र-मानचित्र एवं खिलौने इत्यादि देखे। वहाँ के उपहारगृह की देखभाल भी बच्चे ही करते थे। भारत के बाल-नागरिक वहाँ तैयार किये जाते थे। वह केवल स्कूल नहीं था बल्कि डॉ. जाकिर हुसैन व उनके अन्य सहकारियों का स्वप्न था। घंटी बजी और हम सब स्कूल के सभागृह में इकट्ठे हो गये। बच्चे दूसरे दिन के कार्यक्रम की रिहर्सल कर रहे थे।

सबसे पहले जामिया मिलिया का झंडा-गीत हुआ। बाद में हर स्कूल में होनेवाले वही कार्यक्रम। मैं उठने वाला ही था कि इकबाल की पंक्तियाँ सुनाई दीं और मैं फिर कुर्सी पर बैठ गया। संफेद गुलाब जैसा जताजा मुख और जौ के फूल जैसी सुनहरी आँखें। वह गा रहा था :

हम बुलबुले हैं इसकी

यह गुलिस्ताँ हमारा।

बुलबुल। गोरा चेहरा और सुनहरी आँखें। मुझे कुछ-कुछ याद आ रहा था। वह गा रहा था :

ऐ आब-रू-ए गंगा

आता है याद मुझको

उतरा तेरे किनारे

जब कारवाँ हमारा।

तो मुझे क्यों नहीं याद आती? मैंने इसे कहाँ देखा है?

हिंदी हैं हम वतन है

हिन्दोस्ताँ हमारा।

कविता गायन समाप्त हुआ था। मैंने अपने नजदीक बैठे शिक्षक से पूछा, "कौन है यह लड़का?"

"यह अनवर हुसेन है। काफी होशियार है।" जवाब मिला।

"लखनऊ का है क्या?" मैंने पूछा।

"जी हां। आप जानते हैं इसे?"

"नहीं, जानता नहीं। यूं ही।" मैंने कहा।

अनवर। अब याद आ रहा था। घर की ओर चलते समय मुझे लग रहा था कि बहुत दिनों से खोयी हुई कोई चींज मिल गयी हो। मन हल्का हो गया था। वह गर्मी की दुपहर, गाड़ी में उमड़ी पड़ी भीड़, घर जाने के लिए आतुर सैनिक, वो सिख और अनवर। मुझे लग रहा था कि अब भी मैं गाड़ी में हूं।

मैं अपने खयालों में इतना खोया हुआ था कि बाराखम्भे की ओर जाने वाले बस-ड्राइवर ने मुझे हार्न बजाकर जो इशारा दिया, वह मैंने सुना ही नहीं। ब्रेक लगा और मैं बाल-बाल बच गया। नुक्कड क़ी दूकान का सिख 'बाबूजी, बाबूजी' कहते हुए दौड़कर मेरे पास आया। ड्राइवर ने एक बार मेरी तरफ देखा, फिर मेरे खादी के लिबास को और जबान पर आयी गाली निगलकर वह चला गया। उस सरदार ने मेरी बांह पकड़ ली और हँसते हुए पूछा, "क्यों, खुदकशी करने का इरादा था क्या?"

"नहीं," मैंने हँसते हुए जवाब दिया।

"बाल-बाल बचे। ऐसा कौन-सा सपना देख रहे थे आप?" उसने पूछा।

मैंने यकायक पूछा, "उधमसिंह जी, आप यहाँ कैसे?"

जैसे ही मैंने उसका नाम लिया वह भौंचक्का रह गया। अपनी दूकान की ओर ले जाते हुए वह खुद से ही बात करता जा रहा था :

'अजीब बात है। मुझे याद ही नहीं आ रही कि मैंने आपको कहीं देखा है। आइए बाबूजी, चलिए दूकान में। बैठिए।'

बैठते ही मैंने पूछा, "आपका लछमन कैसा है? अब तो वह स्कूल जाताहोगान?"

उधमसिंह और हक्का-बक्का हो गया। आगन्तुक उससे इतना वाकिंफ है और वह खुद कुछ भी नहीं जानता। उसे लग रहा था जैसे उसने मेरे प्रति महान अपराध किया है।

"लछमन पिंडी में है।" कहकर वह फिर से अपनी याद टटोलने लगा। अब मैंने उसे और परेशान में रखना ठीक नहीं समझा। उसे सफर की याद दिलायी और पूछा, "आपको याद है उस अनवर की? वह यहीं पर है जामिया में। आज ही मैंने उसे देखा।"

"अच्छा, वह मुसलमान बच्चा? जामिया में ही होगा वह और हो कहाँ सकता है?" उधमसिंह ने जवाब दिया। मैं उसकी ओर देख रहा था मगर वह प्यार-ममता जो गाड़ी में अनवर के प्रति

उमड़ पड़ी थी, कहीं नंजर नहीं आ रही थी। मुझे लगा कि ये फौजी लोग और हमारी दक्खन की नदियाँ एक जैसे ही हैं। बरसात के दिनों में बाढ़, वर्ना बालू। मैंने उसे और कुरेदा, कहा, "बहुत प्यारा बच्चा था, नहीं?"

मेरी ओर चाय की प्याली बढ़ाते हुए उसने जवाब दिया, "प्यारा तो था ही, लेकिन साँप का बच्चा था।"

प्याली नीचे रखकर मैंने पूछा, "मतलब?"

"मतलब साफ है बाबूजी। मुसलमान की औलाद है न। कभी न भूलिए।" उसकी आँखें कृपाण की तरह चमक उठीं।

स्वतंत्रता का नशा तुरन्त उतर गया था। अब चित्र यूँ लग रहा था कि जैसे पहले आम का पेड़ बौर से भरकर फलों की आशा दिखाये और अचानक ओस गिरकर उस पर पानी फेर जाए। स्वतंत्रता और देश की जयमाला हो ही रही थी कि मंडप टूट पड़ा। अमृतसर, सियालकोट, लाहौर, गाँव-गाँव, बस्ती-बस्ती आग में झुलसने लगे, जलकर राख होने लगे। सर्वनाशी रुद्र प्रकट हुआ था और उसका पांव कभी यहाँ कभी वहाँ पड़ रहा था। उसके डमरू की गम्भीर ध्वनि दिल्ली के चारों मीनारों को कँपकँपा रही थी। उसका अट्टहास हमारी विचार-शक्ति का पंगु बना रहा था। हमारे चेहरे से मानवता का मुखौटा पिघल रहा था और अन्दर सियार की आँखें उग आयी थीं। उँगलियों पर शेर के नाखून, जंगली सुअर के दाँत और बकरे का लिंग। आज तक मनुष्य ने कौन-सी चीज प्रिय मानी है? प्रेमिका की मोहब्बत। कौन-सी चीज पवित्र जानी है? मां के आँसू। कौन-सी चीज उसे मधुर लगती है? बालक का हास्य। तब फिर क्यों हम उन सबको पाँव तले रौंदकर उनके खून में नहाकर दुनिया के सामने बेशर्मी ने नंग-धड़ंग नाचते हैं? क्यों हम एक-दूसरे की मांओं के स्तनों को, पत्नियों की जाँघों को और बच्चों के गले दबाकर दुःख पहुँचाते हैं?

अब तक दिल्ली सुलग रही थी-झुलस नहीं गयी थी। पंजाब से आते समाचारों से वह अन्दर-ही-अन्दर रो रही थी। हिन्दू और सिखों की आँखें उससे सुर्ख हो रही थीं। तो मुसलमानों की भय के आतंक से। धीरे-धीरे खबरे आने लगीं कि कहीं मस्जिद गिरायी गयी तो सब्जीमंडी में किसी को छुरा भोंका गया। कभी किसी मुसलमान के घर पर पथराव ही हो गया। आँधी के ये स्पष्ट चिह्न थे, घनघोर बरसात की पहली बूंदें। और जैसे ही पश्चिमी पंजाब से आये निर्वासितों की बाढ़ सोनीपत से होकर दिल्ली में उतरी तब उनकी लायी हुई कहानियों से पहले तो यहाँ के लोगों के मन जलकर राख हुए, फिर उसके अंगारे बने। निर्वासितों की कहानियों का एक-एक शब्द सुनने वालों को बेचैन बना रहा था। वातावरण में शब्द गूँजने लगे थे : 'बदला, खून का बदला।'

हर कोने में, हर नुक्कड़ पर लोगों के गुट इकट्ठा होने लगे। क्षण भर को चर्चा करते और फिर गायब हो जाते। ऐसा लग रहा था कि दिल्ली में अजनबी लोग काफी संख्या में आ आये हैं

या तो परिचित ही अपरिचित से लग रहे हैं। लोग या तो चुप रहते या घर में पड़े रहते या फिर गाली-गलौंज ही करने लगते। सड़क पर औरतों का व बच्चों का चलना-फिरना लगभग बन्द हो गया था।

फिर भी उधमसिंह की दूकान पर लोगों का आना-जाना बढ़ गया था। वे ग्राहक नहीं थे। एक बार मैंने वहाँ काफी लोग इकट्ठा हुए देखे। उस दिन उससे फिर से मुलाकात होने के बाद मैं कभी-कभार उससे मिलने चला जाता था। इसलिए मैंने देखा उधमसिंह पाषाणवत् निश्चल बैठा था, और बाकी सब उसके इर्द-गिर्द खड़े थे। कोई कुछ नहीं बोलता था। पर कुछ काली-सी चीज उनके मन में थी, यह तो मैं भाँप गया, जैसे एक जानवर दूसरे जानवर को सूंघकर उसकी मन की बातें जान लेता है। शायद मैं भी इन दिनों में बदल गया था। मैंने उसे बुलाया, "सरदारजी, उधमसिंह।"

एक दूसरे में बंधे हाथ वैसे ही रखकर उसने मेरी तरफ अपनी बर्फ जैसी जमी निगाह मात्र डाली। मैंने पूछा, "क्या हुआ?"

"जो होना था सो हो गया," कड़वा-सा हँसते हुए उसने जवाब दिया। आगे बोला, "पिण्डी में, सियालकोट में जो हो रहा है वही हो गया बाबूजी।"

"मतलब?" "मेरा पूरा सत्यनाश हो चुका है बाबूजी," अपनी फौलादी बांहें मेरे कन्धों पर रखते हुए उसने कहा। और फिर मुझे ही नहीं बल्कि दिल्ली के सब वाशिंदों को सम्बोधित कर बोला, "कल दिल्ली में कयामत आएगी। सारे सांप कुचल दिए जाएंगे।"

और सच ही दूसरे दिन दिल्ली में कयामत आ गयी। मुसलमान अपने बाल-बच्चे, बीवियों को लेकर छुपने के इरादे से जाने लगे। रास्तों में उन पर हमले होने लगे। घरों को जलाया जाने लगा। शहर भर में यही चल रहा था, और मैं? मैं कहाँ था? क्या कर रहा था?

क्या इसे सबसे मुझे एतराज था? सच पूछो तो नहीं। खुद मैंने न तो किसी को लूटा, न किसी को छुरा भोंका। और न ही किसी मुसलमान लड़की को भगाया। कारण यही था कि मन से मैं दुर्बल था-नपुंसक। औरों द्वारा होने वाली ये नृशंसता देख कर मैं बहुत खुश होता था। इसीलिए तो मैं शहर भर घूम रहा था। जैसे विंग में बैठकर नाटक देख रहा था। जैसे चीते का किया हिरन का शिकार देखने वाले का खून खौलता है, और पशुओं का सम्भोग-दृश्य नसें उत्तेजित करता है-ठीक वैसा ही मेरा हाल था। मेरे अन्दर उस दुपहर को एक प्रेक्षक छुपा था। दूसरों के भोंके हुए छुरे से टपके खून में हाथ डुबोने वाला, उनसे निर्वस्त्र की गयी लड़कियों के स्तन दबाने वाला...। मैं सब जगह मन से हिस्सेदार था।

दुपहर दो बजे सुना जामिया मिलिया के पास कुछ गड़बड़ हुई। लगा पेट में आतें खींचने लगीं। मैं उस तरफ हो लिया। देखा स्कूल की इमारत से ज्वालाएं उठ रही थीं। नंजदीक के पेड़

के पत्ते सड़ गये थे, हवा से उड़ रहे थे। कुछ कागंज भी उनका साथ दे रहे थे। कौए-कबूतर डरकर इधर-उधर उड़ रहे थे। लोगों की आवांज आ रही थीं। दो-तीन सौ मुसलमान औरतें, बच्चे व पुरुष हमारी ही ओर बढ़ रहे थे...मतलब घिसट रहे थे। चलने के लिए उनके पाँव दुर्बल थे। रास्ते के दोनों तरफ लोग कतारों में खड़े उन अभागों को देख गालियाँ बक रहे थे। हंस रहे थे। अब तक उन्होंने हाथ नहीं उठाया था।

नुक्कड़ पर उधमसिंह की दुकान थी। वहाँ पहुंचते ही सारा चित्र पलट गया। दुकान से पचासेक आदमी उस जत्थे पर टूट पड़े। लाठियाँ, छुरे, बरछे, तरह-तरह के हथियार चलने शुरू हो गये। आदमी भाग खड़े हुए। औरतें बच्चों को सीने से लगाकर चीखने लगीं। लुढ़के हुए बर्तनों से जैसे पानी गिरता है, वैसे ही खून बहने लगा। लाशों का ढेर लगने लगा।

इसमें एकर् आत्त चीख मैंने सुनी। देखा तो उधमसिंह ने फौलदी शिकंजे में एक बच्चे के बाल जकड़े थे। दूसरे हाथ में खून से रंगा कृपाण बच्चे के सीने में टिका दिया था। उस लड़के की आँखें बुझी-बुझी लग रही थीं। होंठ सफेद पड़ गये थे। और सिमट गये थे। वह कुछ कहना चाहता था पर शब्द ही निकल नहीं रहे थे...

मैंने उसे पहचाना। वह अनवर ही था। ग्लाडिओला का फूल जैसा, बुलबुल जैसा अनवर। उसे बचाना ही चाहिए। मैं चिल्लाना चाहता था कि उधमसिंह, हाथ हटाओ। यह अनवर है। अपना अनवर।

लेकिन मैं कुछ बोलूँ इससे पूर्व ही उधमसिंह के कृपाण ने अनवर का सीना चाक कर दिया था। वही अनवर के रेशम जैसे बाल कभी उधमसिंह ने सहलाये थे, जिसे पानी पिलाया था वही अनवर अब चुल्लू भर खून गिराकर उसी के पास शान्त सोया पड़ा था। उसके होंठ फिर से लाल हुए थे और गाल नरम। बाल चमक रहे थे। लग रहा था कि अब वो उठेगा और अपनी बा/हें उधमसिंह के कन्धे पर रखकर कहेगा, "चाचाजी...!"

▪ ▪